

अगली सदी का शोधपत्र



एक समय की बात है, हिंदुस्तान में एक भाषा हुआ करे थी। उसका नाम था हिंदी। हिंदुस्तान के लोग उस भाषा को दिलोजान से प्यार करते थे। बहुत सँभालकर रखते थे। कभी भूलकर भी उसका इस्तेमाल बोलचाल या लिखने-पढ़ने में नहीं करते थे। सिर्फ कुछ विशेष अवसरों पर ही वह लिखी-पढ़ी या बोली जाती थी। यहाँ तक कि साल में एक दिन, हफ्ता या पखवारा तय कर दिया जाता था। अपनी-अपनी फुरसत के हिसाब से और सबको खबर कर दी जाती थी कि इस दिन इतने बजकर इतने मिनट पर हिंदी पढ़ी-बोली और सुनी-समझी (?) जाएगी। निश्चित दिन, निश्चित समय पर बड़े सम्मान से हिंदी झाड़-पोंछकर तहखाने से निकाली जाती थी और सबको बोलकर सुनाई जाती थी।

ये दिन पूरे हिंदुस्तान में बड़े हर्षोल्लास के साथ मनाए जाते थे। बच्चों से लेकर विशिष्ट अतिथि और आयोजनों के अध्यक्ष तक इस भाषा में बोली जानेवाली कविता, निबंध अथवा भाषणों का रद्दा मारा करते थे। चूँकि उस दिन रिवाज के मुताबिक आना-जाना, उठना-बैठना तथा हार पहनाना आदि सबकुछ हिंदी में होता था, अतः अनुवाद की निरंकुश अफरा-तफरी और बेचैनी मच जाती थी। अनुवादकों की बन आती थी। पलक झपकते शब्द-के-शब्द, वाक्य-के-वाक्य दल-बदल लेकर कायापलट तक कर जाया करते थे। देखते-देखते 'प्रपोजल' 'प्रस्ताव' में, 'रिक्वेस्ट' 'प्रार्थना' में, 'प्लीज' 'कृपया करके' में, 'थैंक्स' 'धन्यवाद' में और 'स्पीच' 'भाषण' में बदल जाते थे।

देखते-देखते परंपरा, संस्कृति, भाषा, संस्कार, समृद्ध साहित्य, आदर्श, राष्ट्रीयता, कटिबद्ध, एकसूत्रता आदि शब्दों का ट्रैफिक जाम हो जाया करता था। इनाम पर इनाम, तमगे पर तमगे बाँटे जाते थे। इस एक दिन हिंदी लाभ और मुनाफे की भाषा

हो जाया करती थी। इसका संपूर्ण व्यक्तित्व छूट और 'भय सेल' की चकाचौंध से जगमगा उठता था। लेकिन यह छूट सिर्फ इन्हीं दिनों के लिए थी। बाकी दिनों बात बिना बात हिंदी बोलने, इसे खर्च करने के जुर्म की सजा हर बेरोजगार, दकियानूसी और पिछड़े आदमी को भुगतनी पड़ती थी।

चूँकि यह भाषा समूचे हिंदुस्तान की गरिमा की प्रतीक थी, इसलिए इसे वातानुकूलित ऑफिसों की एयरटाइट फाइलों में बंद करके रखा जाता था। सरकार की तरफ से इसकी सुरक्षा के कड़े निर्देश थे। जेड क्लास सुरक्षा चक्रों के बीच, संसद् की बैठकों में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि 'माननीय सभासदों! माननीय अध्यक्षजी!' के अतिरिक्त सबकुछ अंग्रेजी में हो। इसलिए कुछेक सिरफिरो को छोड़कर सारे प्रस्ताव अंग्रेजी में ही प्रस्तावित और खारिज किए जाते थे। सारी-की-सारी योजनाएँ और बड़े-से-बड़े स्केंडल अंग्रेजी में ही किए जाते थे; जैसे बोफोर्स। सिर्फ कुछ विशेष प्रकार के स्केंडल हिंदी में होते थे, जैसे प्रतिभूति घोटाला। कम अंग्रेजी बोलते थे, जो हिंदीभाषी (पैदाइशी) थे, वे ज्यादा। क्योंकि उन्हें अपने पद की गोपनीयता की तरह ही अपनी भाषा की गोपनीयता बनाए रखने की चिंता सर्वोपरि थी।

उस सदी में पूरे देश में गणतंत्र लागू होने पर भी तथा सभी संभव प्रकार के घोटालों की पूरी छूट होते हुए भी हिंदी के मामले में सरकार के स्पष्ट अनुशासित और कड़े निर्देश थे कि खबरदार! हिंदी को कोई छूने न पाए। यह संपूर्ण राष्ट्र की अस्मिता का प्रश्न है। अतः साक्षात्कारों तथा स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के अध्ययन तक हिंदी के जरिए जो पहुँचने की कोशिश करेगा उसका प्रमोशन, परीक्षाफल, फाइल, आवेदन, अनुरोध, प्रार्थना तथा सारे अटके पड़े काम हमेशा के लिए अटके रह जाएँगे। वह लोगों द्वारा हेय दृष्टि से देखा जानेवाला उपेक्षा का पात्र होगा।

उस सदी में कुछ बड़े-बड़े लोगों के लिए ही हिंदी बोलने का कोटा निर्धारित किया जाता था। कोई बड़ा लेखक, राजनीतिज्ञ, अफसर या अहिंदीभाषी जब हिंदी बोलता तो तालियाँ पिट जाती थीं, लोग 'साधु-साधु' कह उठते थे; लेकिन वही हिंदी जब कोई सामान्य व्यक्ति बोलता तो वह उपहास, दया या उपेक्षा का पात्र समझा जाता था। इसलिए प्रायः ऐसे लोग अपने देश में अंग्रेजी और विदेशों में जाकर हिंदी बोल आया करते थे।

स्कूलों में भी इस भाषा पर कोई आँच न आने पाए, इसका पूरा ध्यान रखा जाता था और हिंदी की सारी पढ़ाई अंग्रेजी के माध्यम से करा दी जाती थी। आज

की बात और है। आज तो हिंदी भाषा का अस्तित्व समाप्त हो चुका है। हिंदी है ही नहीं। हिंदी इतिहास की, अतीत की भाषा हो चुकी है; लेकिन पिछली सदी में जब वर्तमान की भाषा थी तब भी सरकार और शिक्षाविदों ने ऐसी ईजाद कर ली थी कि बगैर हिंदी का एक शब्द भी खर्च किए हिंदी पढ़ा-लिखा दी जाती थी। उन दिनों माताओं के लिए सबसे ज्यादा गर्व की बात यही हुआ करती थी कि उनका बच्चा सिर्फ हिंदी में फेल हो गया। गोया हिंदी में फेल होना अन्य विषयों में पास होने से ज्यादा महत्वपूर्ण था।

हमारी नवीनतम शोधें बताती हैं कि कुछ गलत दस्तावेजों और पुस्तकों के आधार पर हम हिंदी को बीसवीं शताब्दी के हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा, राजभाषा, संपर्कभाषा या मातृभाषा जैसा कुछ मान बैठते हैं। पर हकीकत तो यह है कि वह इनमें से कुछ भी नहीं थी। ये सारे तथ्य भ्रामक हैं। शोध बताती है कि दरअसल हिंदी भाषा ही नहीं 'वह खास-खास अवसरों पर पहनी जानेवाली पोशाक थी, लगाया जानेवाला मुखौटा थी। वह एक डफली थी, जिसपर लोग अपने-अपने राग गाया करते थे। वह चश्मा थी, जिसे लगाकर अनुदानों, पुरस्कारों की छाया में सांस्कृतिक यात्राओं का सुख लूटा जा सकता था। वह एक सीढ़ी थी, जिसके सहारे अकादमियों के मंच तक चढ़ा जा सकता था और करेंसी नोट थी, जिसे विशिष्ट आयोजनों पर सार्त्र, मार्क्स, ऑस्कर वाइल्डानस्टॉप, चेखव और कामू के माध्यम से भुनाया जा सकता था। अपने देश की पिछली और अगली शताब्दियों के गरीब कवि-लेखकों में इसे भुनाने की औकात नहीं थी। ग्लानि और लज्जावश कबीर, सूर, तुलसी, रत्नाकर, भारतेन्दु और महादेवी वर्मा, प्रसाद, निराला तक नेपथ्य में छुप जाया करते थे, राजमार्गों से हट जाया करते थे।

दिवक्त सिर्फ एक थी, हरेक के अपने चश्मे थे—और चश्मा जिस रंग को सही बताता था, दूसरा उसे पूरी तरह खारिज कर देता था।

डफलियाँ भी सबकी अलग-अलग, जिसपर अपने राग गाते तो भी ठीक था, लेकिन बाद के दिनों में सिर्फ डुगडुगी पीटने लगे और इसी फेरफार में हिंदी की डुगडुगी पिट गई और वह पूरी तरह इतिहास की भाषा हो गई। अपने देश के लोगों द्वारा अपने देश की मिट्टी में विलीन हो गई।

दुःख है कि पिछली सदी की इस भाषा का कोई अवशेष नहीं रहा। इसलिए शोध छात्रों को काफी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। उनकी सुविधा के लिए सूचना दी जाती है कि वे चाहें तो विदेशों के कुछ विश्वविद्यालयों से हिंदी से संबंधित कुछ सामग्री और सूचनाएँ उपलब्ध कर सकते हैं।



हिंदी चिंतन और चिंता के आयाम



वे बेहद दुःखी थे। उनकी सारी चिंता हिंदी को लेकर थी। कहने लगे, क्या करें, हिंदी के प्रचार-प्रसार को लेकर कुछ हो ही नहीं पा रहा।

मेरी आँखों में छाए हिंदी के अँधेरे में खुशी के अनार छूटने लगे। तो आखिरकार भाग्य पलटे। घूरे के पलटते हैं बारह बरस पर, तो हिंदी के नहीं पलटेंगे! घूरे से ज्यादा गई-बीती तो नहीं ही ठहरी अपनी हिंदी।

सो दीदावर पैदा हो ही गया। बेनूरी पे रोती नर्गिस को उठाकर एकदम ब्यूटी कॉण्टेस्ट में खड़ा कर देनेवाला। मैं सोल्लास मदद के लिए लपकी। उन्होंने चश्मे की कमानी पर मुझे तौला, आश्वस्त हुए और बोले, 'हिंदी को अंग्रेजी में कोई भली प्रकार समझानेवाला मिले तो बताइए।'

मैंने कहा, 'हिंदी को हिंदी में समझा लें तो कैसा रहे?'

वे खीझे, 'हिंदी को हिंदी में समझाने से फायदा?'

मैंने कहा, 'किसका फायदा? हम हिंदी के ही फायदे की बात कर रहे हैं न!'

उन्होंने कुपित नजरों से मुझे देखा, 'आप लोग समझती तो हैं नहीं। मैं विदेशों की बात कर रहा हूँ। हमें विदेशों में हिंदी के महत्त्व पर प्रकाश डालना है, इसका प्रचार-प्रसार करना है। मैं हिंदी को अपने साथ विदेश यात्रा पर ले जाना चाहता हूँ।' (उन्होंने यह नहीं कहा कि वे हिंदी की पूँछ पकड़कर विदेश यात्रा की वैतरणी पार करना चाहते हैं।)

'सो तो कितने लोग गए। समझ भी आए अंग्रेजी में।'

'क्या?'

'यही कि हिंदी एक दरिद्र भाषा है। इसमें सूरज के लिए तो सत्रह पर्यायवाची हैं, लेकिन चूहे के लिए सिर्फ एक।'

उन्होंने भावों को उतारा-चढ़ाया। फिर मुझे समझाने की कोशिश की, 'किसी अंग्रेजीवाले ने कहा है तो सोच-समझकर ही कहा होगा। शायद ऐसा कहने से ग्रांट वगैरह की उम्मीद बढ़ जाती है। बहरहाल, कुछ-न-कुछ वाजिब कारण जरूर होगा।'

'कारण अज्ञान भी तो हो सकता है, अथवा दूसरे शब्दों में अंग्रेजीवालों का हिंदी ज्ञान। या फिर यह कि ग्रांट दरिद्रों को ही तो मिलती है।'

उन्होंने अपनी सफाई पेश करते हुए कहा, 'देखिए, मुझपर आप कोई आरोप नहीं लगा सकतीं। मैंने हिंदी के सत्तर प्रतिशत लेखकों को पद यात्राओं के स्तर से उठाकर विदेश यात्राओं के स्तर पर ला खड़ा किया। क्या हिंदी के लिए यह फख्र की बात नहीं कि आज हिंदी का हर तीसरा लेखक फॉरेन रिटर्न है? लमही से चले हिंदी लेखकों को लॉस एंजिल्स पहुँचा रहा हूँ। कोई कम महत्त्व का काम है यह!'

'मैं हिंदी लेखकों की नहीं, हिंदी की बात कर रही हूँ।'

'मैं भी; मैंने कितनी कोशिश की आपकी हिंदी के लिए। उसे सांस्कृतिक शिष्टमंडलों के साथ, लेखकीय अस्मिता के साथ, राजनीतिक सौहार्द के साथ बराबर यहाँ-वहाँ भेजा, प्रचारित, प्रोत्साहित करने की कोशिश की; लेकिन न जाने क्या कारण है कि सारे नाच-गाने, कुरते-घाघरी, सिरेमिक्स और चिलम-हुक्के तो अपनी जगह पहुँच जाते हैं, नहीं पहुँच पाती तो बस हिंदी। यही जहाँ की तहाँ रह जाती है।'

'रह नहीं जाती, बल्कि यों कहा जाए कि कुछ आवश्यक, अपरिहार्य कारणों से वे लोग ऐन मौके पर छोड़ देने के लिए विवश हो जाते हैं। 'भूलवश' का बहाना मारकर, जानबूझकर उँगली छुड़ाकर, सांस्कृतिक गतिविधियों से ठुँसे सूटकेसों और एयर बैगों में हिंदी के लिए जरा भी जगह न होने की क्षमा याचना कर ली जाती है।'

'अब आप जो भी समझें।'

'मैं तो यही समझती हूँ कि हिंदी की बात की जाए, लेकिन हिंदी में नहीं।'

'यह आपका सरासर गलत आरोप है। हमारे पास इतनी ढेर सारी एक्सपोर्ट क्वालिटी हिंदी जमा है, लेकिन उसे कोई हिंदीवाला ही खरीदने के मूड में नहीं। आप कहिए तो 'सेल' लगवा दूँ। जो कुछ भी वसूल हो जाए। हिंदी को लेकर तो हम अतिरिक्त उदार हैं। हमेशा खुदरा से लेकर थोक व्यापारियों तक की तलाश और फिराक में रहते हैं। हमारी कोशिश रहती है कि हर संस्थान, हर कार्यालय के जीने के पीछे या किसी-न-किसी कोने-अँतरे हिंदी विभाग, हिंदी कक्ष आदि अवश्य हो।

'हिंदी को इतना काम तो मिल ही जाए कि वह अपनी गुजर-बसर कर ले, स्वावलंबी बने। लेकिन वह अपनी ही गुजर-बसर नहीं कर पाती तो हिंदीवालों की क्या करेगी। अब देखिए न, बेरोजगार तो उसे देखते ही ऐसे बिदकते हैं जैसे किसी महाअपशकुनी से सामना हो गया हो। ...ऐसी गई-गुजरी हालत में वह क्या खाकर हिंदुस्तान का पालन-पोषण करेगी। जरूरत इस बात की है कि इस दिशा में उसे प्रोत्साहित करने के लिए आप जैसे लोग आगे आएँ। हिंदी के उद्धार का बीड़ा उठाएँ, हिंदी का चना-चबैना खाएँ, हिंदी के हाथों का पानी पीएँ, हिंदी के रिक्शे पर बैठें, फुटपाथों पर हिंदी को ओढ़ें-बिछाएँ और...मेरी रचनाओं तथा भाषणों का ए-वन अंग्रेजी अनुवाद...'

'क्षमा कीजिए,' मैं तैश में आकर उठ खड़ी हुई, 'हिंदी को आपकी दया-धरम के लंगरों और फुटपाथों की जरूरत नहीं। उसे उसका खोया हुआ स्वाभिमान चाहिए, सम्मान चाहिए, दरजा चाहिए; वाजिब दरजा और उसकी अस्मिता...'

'ऐसा कीजिए,' उन्होंने मुझे बीचोबीच टोकते हुए कहा, 'हिंदी की जरूरतों और शिकायतों की यह पूरी लिस्ट अंग्रेजी में अनुवाद करा के हमारी विभागीय फाइल में नत्थी करा दीजिए। हम बहुत शीघ्र एक्शन लेंगे। आपको इन्फॉर्म करेंगे।'

□